महर्षि मेंहीं परमहंस जी महाराज

धर्मानुरागिनी प्यारी जनता !

मैं यहाँ—दुमका पहुँच कर इस सत्संग-मंदिर को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। मुझे भागलपुर में जाकर ज्ञात कराया गया कि इसका उद्घाटन आपको करना होगा। वृद्धावस्था में मैं बाहर अधिक नहीं जाता, लेकिन सत्संग-मंदिर के उद्-घाटन का नाम जान कर मैं यहाँ आया और बहुत प्रसन्न हुआ आपलोगों को देख कर।

'सत्संग' क्या है ? जब तक पूर्णता नहीं हो, संत नहीं; जो पूर्ण हैं, वे संत हैं और उनका संग 'सत्संग' है। संत के लिये तो यह बात है कि—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।।"
—(महोपनिषद्)

अर्थात् परे से परे—परमात्मा को देखने पर हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है, सभी संशय छिन्न हो जाते हैं और सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं।

जड़ और चेतन की अलग-अलग पहचान हो। जड़ को सभी चीन्हते हैं, लेकिन जो जड़ से चेतन को फुटा कर चीन्हते हैं, वे संत हैं। गो० तुलसी दास जी कहते हैं—

"अमित बोध अनीह मित भोगी ।
सत्य सार कवि कोविद योगी ।।"

संत को कितना बोध है, इसका ठिकाना नहीं। वे इच्छा-रहित, स्वल्प भोगी, सत्य के सार रूप, सत्य से कभी टलने वाले नहीं, कवि, पण्डित और योगी होते हैं। बिना योगी हुए कोई पूर्ण हो नहीं सकता—यह है संत की परिभाषा।

भक्त को एवं भगवन्त को क्या बूझते हैं? "राम ते अधिक राम कर दासा"। ईश्वर से बढ़ कर कोई नहीं होता, लेकिन ईश्वर से भी बढ़ कर सन्त होते हैं। "सातवँ सम मोहिमय जग देखा। मोतें अधिक संत करि लेखा ।।" तुलसीदास जी की रामायण में उनका गाया हुआ काव्य देखो. तो मालूम होगा सबसे बढ़ कर संत की महिमा उन्होंने गाई है। लेकिन संत को कौन पहचानता है ? अच्छे चाल-चलन वाले को हमलोग संत कहते हैं। वे अकपट होते हैं, सीधे चाल-चलन के होते हैं। बड़े विद्वान् की परीक्षा कम विद्वान् कहाँ तक ले सकता है ? संत को संत ही पहचान सकते हैं, उनके संग का नाम 'सत्संग' है। जिसको सत्य से प्रेम है, सत्य—परमात्मा है, परमात्मा अडोल है, सर्वज्ञान-सम्पन्न है, उसको जो पाये हैं, संत हैं। उसका भेद जो खोलते हैं, उसके पाने का सीधा-सरल रास्ता जो बताते है, वे संत हैं।

बाहर में ईश्वर के पाने का मार्ग नहीं है,

मार्ग अपने अंदर है। अपने अन्दर में चलने की विधि और मार्ग योग-शास्त्र बताता है। जीव की बैठक जहाँ शरीर में है, वहाँ से लेकर ईश्वर स्वरूप की प्रत्यक्षता तक का जो रास्ता है, वही मोक्ष का रास्ता है।

"संत संग अपवर्ग कर, कामी भवकर पंथ।
कहहिं संत कवि कोविद, स्रुति पुराण सद्ग्रंथ।।"

यह अन्दर का रास्ता ईश्वर-कृत है। इस रास्ते पर जो चलता है, वह संतमतानुयायी है। जो इस मार्ग पर चलाते हैं, वे संत हैं।

सत्संग में गंगा, यमुना और सरस्वती की धारा बहती है।

"राम कथा जहँ सुरसरि धारा।
सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा।।
विधि निषेधमय कलिमल हरनी।
करम कथा रवि नंदिनि वरनी।।"

राम-कथा यानी सगुण अवतारी ब्रह्म; जैसे शिव, विष्णु आदि ईश्वर कोटि के देवता या राम, कृष्ण; सब सगुण ब्रह्म हैं। जहाँ इनकी कथा होती है, वह गंगा की धारा है। जहाँ ब्रह्म, माया, नित्य, अनित्य आदि का ज्ञान हो, वह सरस्वती की धारा है और जहाँ कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य का ज्ञान हो, वह यमुना की धारा है। सरस्वती-धारा के बिना अर्थात् ब्रह्म-विचार के बिना गहराई नहीं आवेगी। केवल 'सत्संग' कहने से तीनों में-से किसी को ले लो, 'सत्संग' है, लेकिन 'सन्तमत-सत्संग' कहो, तो तीनों को लेना होगा। जिसमें ब्रह्म-विचार आवश्यक होता हैं। 'सन्तमत-सत्संग' में ब्रह्म-विचार का होना अनिवार्य होता है, किन्तु केवल 'सत्संग' में ब्रह्म-विचार हो-न हो, कोई बात नहीं। 'संतमत-सत्संग' में—"अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्य सार कवि कोविद योगी।।" का बोध होता है। बिना योग के ज्ञान नहीं। 'सन्तमत-सत्संग' में अध्यात्म को छोड़ना नहीं होता। 'संतमत-सत्संग' का अध्यात्म से बड़ा सम्बन्ध है। किन्तु केवल 'सत्संग' कहो तो उसमें अध्यात्म रहे वा नहीं भी रहे। केवल 'सत्संग' कहो तो उसमें केवल गंगा की धारा होगी, सरस्वती की गहराई नहीं। 'संतमत-सत्संग' और केवल 'सत्संग' में यह अन्तर है।

मैं कहता हूँ कि संतमत-सत्संग-मन्दिर में ईसाई, मुसलमान तथा अन्य धर्मावलम्बी भी आकर सत्संग करेंगे; तो मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। लेकिन हिंसात्मक काम कोई नहीं कर सकते। ईश्वर सभी भाषा को जानते हैं। किसी एक भाषा की प्रार्थना को मानना और अन्य भाषा में की प्रार्थना को नहीं, संकीर्णता है। सामवेद में है मनुष्य सभी भाषाओं में ईश्वर की स्तुति कर सकता है।

"एह्यू षु ब्रवाणि ते ऽग्ने इत्थेतरा गिरः।
एभिर्वर्धास इन्दुभिः ।।७।।"

(आग्नेय काण्ड)

अर्थात् हे अग्ने ! हे प्रकाश-स्वरूप ! आ, तेरे लिये इस प्रकार की वैदिक सत्यवाणियों और उनसे दूसरी लौकिक या वेदवाणी से अतिरिक्त मनुष्य-वाणियों को मैं तेरी स्तुति में कहूँ। इन परम ऐश्वर्यों से तू महिमा में बड़ा है। ईश्वर अपने सामर्थ्य, ज्ञान और गुणों द्वारा सबसे बड़ा है। वैदिक और लौकिक सब वाणियाँ उनकी ही स्तुति करती हैं।

ईश्वर तक कैसे पहुँचा जायगा, कहाँ से चला जायगा; यह 'संतमत-सत्संग' में बताया जाता है। 'सन्तमत' सामाजिक कामों में कोई हस्तक्षेप नहीं करता। हाँ, हिंसात्मक काम से अलग अवश्य रहता है।

इस मंदिर का नाम चाहे 'संतमत-सत्संग-मंदिर' रखो, चाहे 'सत्संग-भवन' रखो, मुझे इसमें हर्ष-विषाद की कोई बात मालूम नहीं पड़ती। लेकिन

मुझसे पूछो तो मैं कहूँगा—'संतमत-सत्संग' रखो तो ठीक है, क्योंकि उसके साथ अध्यात्म रहेगा। नहीं तो केवल सत्संग में अध्यात्म रहे वा नहीं रहे।

लोग तुलसीकृत रामायण का बहुत पाठ करते हैं और सुनते भी हैं। लेकिन क्या, उसमें यही लिखा है कि ईश्वर बाहर में ही मिलेंगे? बाहर-दर्शन से क्या-क्या हुआ, सो इतिहास रामायण में है। और पुस्तकों में भी है, पढ़ लीजिये। रामायण ही में पढ़िये—

"निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुण जान नहिं कोय।
सुगम अगम नाना चरित,सुनि मुनि मन भ्रम होय॥"

और स्वयं तुलसीदास जी अपनी निस्बत विनय पत्रिका में लिखते हैं—

"एहितें मैं हरि ज्ञान गँवायो।
परि हरि हृदय-कमल रघुनाथहिं,
बाहर फिरत विकल भय धायो॥१॥
ज्यों कुरंग निज अंग रुचिर मद,
अति मति हीन मरम नहिं पायो।
खोजत गिरि तरु लता भूमि बिल,
परम सुगन्ध कहाँ तें आयो॥२॥
ज्यों सर विमल वारि परिपूरन,
ऊपर कछु सेवार तृन छायो।
जारत हियो ताहि तजिहों, सठ,
चाहत यहि विधि तृषा बुझायो॥३॥
व्यापित त्रिविध ताप तन दारुन,
ता पर दुसह दरिद्र सतायो।
अपने धाम नाम सुरतरु तजि,
विषय बबूर बाग मन लायो॥४॥
तुम्ह सम ज्ञान निधान,
मोहि सम मूढ़ न आन-पुरानन्हि गायी।
तुलसिदास प्रभु यह विचारि जिय,
कीजै नाथ उचित मन भायो॥५॥

लोग कहते हैं कि चित्रकूट में तुलसीदास जी को भगवान् श्रीराम का दर्शन हुआ, चन्दन लगाये, लेकिन वे पहचान न सके। उसके बाद राजकुमार के रूप में घोड़े पर जाते हुए उन्होंने देखा, लेकिन फिर भी पहचान न सके। ब्रह्मा को श्रीकृष्ण भगवान् के चरित्र को देख कर संशय हुआ। काग-भुशुण्डि और नारद को भी मोह हुआ। इसीलिये गो० तुलसीदास जी ने "निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहि कोय। सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होय॥" कहा! निर्गुण रूप में भ्रम नहीं होता, क्योंकि उसमें "सुगम अगम नाना चरित" नहीं हैं। सगुण की उपासना नहीं करो, मैं नहीं कहता। मैं कहता हूँ कि उस सगुण में निर्गुण का भी ज्ञान करो। यह ज्ञान बाहर में नहीं होगा, अन्दर में होगा; यह 'संतमत' बताता है। 'संतमत' ईश्वर-प्राप्ति का रास्ता बताता है। ईसाई वा इस्लाम धर्मी; किसी को भी सन्तमत के ईश्वर-स्वरूप में फर्क नहीं। बौद्ध, जैन, सनातन धर्मी, आर्य समाजी, कुछ भी इने रहो, अंतर्मार्ग जानो और उस पर चलो। 'संतमत' इन किन्हीं से भिन्नता नहीं मानता। संतमत के ज्ञान को जानो और उस पर चलो।

ईश्वर-प्राप्ति का रास्ता एक है, दो नहीं और अनेक तो क्या होगा? रास्ता घूम-फिर कर नहीं है—सीधा है। "सीधे चला जाना वहाँ, मुर्शद ने यह फतवा दिया।"

ईश्वर-प्राप्ति का रास्ता एक है, जैसे भोजन करने का रास्ता एक है—मुँह। रूप-निरीक्षण करने का रास्ता एक है—आँख, शब्द-श्रवण करने का एक रास्ता है—कान; आदि। जो लोग यह कहते हैं कि "गोड़ा जाने के अनेक रास्ते हैं।" वे भूल में हैं, वे जानते नहीं हैं। अभी आप अपने शरीर में जहाँ बैठे हैं, वहाँ से छोर पकड़ने के लिये भिन्न-भिन्न उपासनाएँ हैं, लेकिन ये भिन्न-भिन्न मार्ग नहीं। छोर पकड़ने का एक ही रास्ता है,

चाहे किसी देश का वा किसी धर्म का आदमी हो। रास्ता एक है और वह अंतर का रास्ता है।

गो० तुलसीदास जी ने कहा है—"तीन अवस्था तजहु भजहु भगवंत। मन क्रम वचन अगोचर व्यापक व्याप्य अनंत॥" तीन अवस्थाओं को छोड़ कर चौथी अवस्था में जाकर भजन होगा। चौथी अवस्था में जाने का रास्ता अपने अन्दर है, ठीक से समझ लो; लेकिन जो स्वार्थी लोग हैं, वे भरमा कर रखेंगे, उनसे सचेत रहो।

अन्त में, इस मन्दिर के बनवाने में और इस सत्संग के आयोजन में जिन लोगों ने हाथ बँटाया है, उन सब लोगों को मैं धन्यवाद देता हूँ।

—प्रेषक, 'संतसेवी'

महर्षि मेंहीँ परमहंस जी महाराज का यह प्रवचन दि० २-१२-६५ ई० को प्रातः दुमका के सत्संग-मन्दिर में हुआ था। इस मंदिर का निर्माण वहाँ के धर्म-प्रेमी एवं सत्संगी-सज्जनों के सहयोग से हुआ। मंदिर के उद्घाटन के लिये वहाँ के सज्जनों ने प्रातःस्मरणीय परम पूज्य महर्षिजी महाराज को सादर आमंत्रित कर सत्संग का एक विशेष आयोजन किया था, उसी अवसर पर दिया गया उपर्युक्त प्रवचन है। —प्रेषक।

सूचना

'शान्ति-सन्देश'-कार्यालय भवानीपुर राजधाम (पुरैनियाँ) से अब महर्षि मेंहीँ आश्रम कुप्पाघाट, भागलपुर आ गया है। इसलिये **शान्ति-सन्देश** के सम्बन्ध में किसी तरह का पत्र, निबन्ध या वार्षिक मूल्य निम्नांकित पते से भेजने की कृपा करें।

गत वर्ष अनुरोध करने पर ग्राहक बढ़ाने की दिशा में कुछ प्रगति अवश्य हुई, परन्तु धर्म-प्रचार के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं।

अतः धर्मानुरागी ग्राहकों तथा पाठकों से सादर अनुरोध है कि **'शान्ति सन्देश'** के अधिकाधिक ग्राहक बनाकर संतों के कल्याणकारी विचारों को प्रसारित एवं प्रचारित करने में सहायक बनें।

विनीत—

व्यवस्थापक—**'शान्ति-सन्देश'**

कार्यालय—**महर्षि मेंहीँ आश्रम**, कुप्पाघाट

पो० बरारी, भागलपुर—३ (बिहार)

अखिल भारतीय संतमत-सत्संग का विशेषाधिवेशन

रुपौली में

पूज्य महर्षि मेंहीं परमहंस जी महाराज का प्रवचन

[गताङ्क का शेषांश]

२६-१२-६५ प्रातःकाल

प्यारे लोगो !

मनुष्य को ज्ञान होना चाहिये। जिसमें ज्ञान नहीं, वह जड़ कहलाता है। जो विद्या में विशेष, वही ज्ञानी और विद्वान् हैं। संसार में सब वस्तुओं का ज्ञान हो, इसीलिये महाविद्यालय में साइन्स की पढ़ाई होती है। भौतिक विज्ञान अपूर्ण है। वैज्ञानिक भी कहता है कि विज्ञान की खोज खतम नहीं हुई है। यह कहाँ तक बढ़ेगा, ठिकाना नहीं।

अपने शरीर का जैसा ज्ञान है, वैसा ज्ञान अपने तईं का भी होना चाहिये। बहुत से शरीर वा पिण्ड के रहने के लिये अवकाश अवश्य देखते हैं। वह कौन-सा अवकाश है, जिसके अन्दर सबके सब रहते हैं ? यह वह परमाकाश है कि जिसके बाहर कुछ नहीं। जिसके विस्तार का अन्त नहीं। उसके परे कुछ है, कहा नहीं जा सकता। जहाँ काल है, वहाँ देश है, जहाँ देश है, वहाँ काल है। जो देश और काल को भी अपने में पचा लेता है, वही ईश्वर है। गो० तुलसीदास जी कहते हैं—"अति कराल कालहु के काला।"

परमात्मा अपरिमित शक्ति वाले हैं। कोई ससीम सबके पहले का नहीं हो सकता है। सबसे पहले का असीम ही होगा। ईश्वर के बारे में जहाँ-जहाँ पढ़ते हैं, सबमें ईश्वर को परम पुरातन, परम सनातन कहा गया है। इनको नही मानना भारी भूल है। ज्ञान सभी कोई चाहते हैं। जानने का प्रेरण मनुष्य के हृदय में स्वाभाविक है। मेरा ज्ञान बढ़ता जाय और मैं शान्ति-पूर्वक रहूँ, इसी में सारी इच्छायें समाप्त हो जायँगी। जानना दो प्रकार से हो सकता है। एक परोक्ष, दूसरा अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान। परोक्ष ज्ञान में पछताता रहता है, पहचान नहीं होती। पहचान लेने पर अपरोक्ष ज्ञान होता है। सोचना और समझना दार्शनिक ज्ञान है। बिना सोचे-समझे एक कदम भी नहीं चल सकते। भौतिक विज्ञान में अभी संतुष्टि नहीं है। मनुष्य जब भौतिक विज्ञान से आगे बढ़ कर अध्यात्म-विज्ञान की ओर आवेगा, तब वह संतुष्ट होगा। विज्ञान अव्यक्त को प्रत्यक्ष कर देता है। जो प्रत्यक्ष नहीं है, उसे प्रत्यक्ष करादे, वही योगविद्या है। सरल और सर्वसाध्य ध्यानयोग है। भगवान् कृष्ण ने भी ध्यानयोग पर जोर दिया है। ध्यान से ज्ञान बढ़ता है। यह मानव-शरीर समुद्र है। इसमें जो घुसता है, वह ज्ञान पाता है। अध्यात्म-विज्ञान का यह शरीर प्रयोगशाला है। विन्दुध्यान ऐसा है, जो अन्दर घुसावेगा, तब ज्ञान बढ़ेगा। खूब पढ़िये, परन्तु अपने अन्दर नहीं घुसियेगा तो अपरोक्षज्ञान नहीं होगा। जो ध्यान करता है, वह सदाचार में मजबूत होता है, वह मननशील होता जाता है। ध्यान ईश्वर की उपासना है।

अपराह्णकाल

धर्मानुरागिनी प्यारी जनता !

आप लोग शान्तिप्रिय बनें। शान्ति कैसे प्राप्त हो, यह इस सत्संग से जानें। सत्संग में भक्ति के बारे में कहा जाता है, ईश्वर-स्वरूप का ठीक-ठीक निर्णय बताया जाता है।

आपके अपने-अपने घरों में, ईश्वर-सम्बन्धी कोई न कोई शब्द बच्चों को रटाते है। यह बहुत अच्छा रिवाज है। ईश्वर को अनेक मानना गलत है। क्या ! ईश्वर अनेक हो सकते हैं ? जो भक्त ईश्वर को अनेक मानते हैं, वे कम जानते हैं। ईश्वर दो हो नहीं सकते, यह एकदम असम्भव है। अनेक ईश्वर मानने की साम्प्रदायिक-भावना आपस में झगड़े पैदा कर देती है। यथार्थ में ईश्वर एक ही हैं। नाम और रूप अनेक हैं। उपनिषद् का यह ज्ञान बहुत उत्तम है—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव।
एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१॥

कठो० अ० २ व० २

अर्थात्—जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है। ब्रह्म या आत्मा एक ही एक है, वह वायु के ऐसा **सर्वव्यापक** है और **सर्व से परे भी** है। ईश्वर का न केन्द्र होता है और न परिधि। जीव केन्द्र और परिधि-युक्त है। ईश्वर केन्द्र और परिधि से परे है। उसकी सीमा कहीं नहीं होती है। उसी एक को राम, शिव, विष्णु आदि कहते हैं। यह नाम, रूप माया है। "नाम रूप दुइ ईश उपाधी"। —गो० तुलसीदास जी

पशु-योनि में जो मन रहता है, वही मन मनुष्य-योनि में भी रहता है। इसीलिये पशु-योनि का संस्कार मनुष्यों में पाया जाता है।

जीवात्मा परमात्मा का अभिन्न अंश है। यह अंश आवरण के कारण से माना जाता है। कितना भी बड़ा रूप बना लो, वह रहेगा आकाश के अन्दर ही। ईश्वर माया के रूप को भर कर उससे बाहर कितना है, कोई नहीं कह सकता। ईश्वर इन्द्रियों को व्यक्त नहीं, परन्तु आपको व्यक्त है। जो कोई योगी होता है, वह देवता के पद से भी आगे बढ़ जाता है। जहाँ जाकर "जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई" होता है। मनुष्य वहाँ तक जा सकता है।

परमात्मा की भक्ति हम माया-रूप पाने के लिये नहीं, उनके स्वरूप को पाने के लिये करें। मनु-शतरूपा को माया-रूप का दर्शन हुआ, लेकिन उनका कष्ट नहीं छूटा। इससे छूटने के लिये अमायिक रूप का दर्शन चाहिये। उन्हें आत्मा से ही पहचान सकेंगे। आत्मा को अपनी कैवल्य दशा में आना चाहिये। शरीर माया से निर्मित घर है। इसको जबतक हम पार नहीं कर जायँ, तबतक हम कैवल्य दशा को प्राप्त नहीं कर सकते। अन्दर चलने के लिये ध्यानाभ्यास करो।

किसी रूप का ध्यान, स्थूल ध्यान है। रूप-ध्यान से सिमटाव होता है, और सूक्ष्म ध्यान करने की योग्यता प्राप्त होती है। ध्यान करने के लिये कहीं घर छोड़ कर भागने की आवश्यकता नहीं। कर्म करो और ध्यान भी करो। सज्जनों के धर्मानुकूल चलो। पंच पापों से रहित को सज्जन कहते हैं। दमशीलता का अभ्यास करो। दमशील इन्द्रियों को रोकने का स्वभाव वाला होता है। दमशील

केवल विचार से नहीं हो सकते। मन की सूतें इन्द्रियों से लगी हुई हैं। ध्यान से मन को इन्द्रियों के घाटों से समेटा जाता है।

२७-१२-६६ ई० प्रातःकाल

प्यारे लोगो !

एक संत की वाणी पढ़ कर जितना लाभ, उतना लाभ अन्य संतों की वाणी पढ़ने से भी होता है। सब में एक ही बात जान पड़ती है, यही संतमत की विशेष बात है। सब संतों का आदर और सब सद्ग्रन्थों का आदर बहुत अच्छा लगता है।

जो सत्संग करें, वे सभी सत्संगी, कोई गैर सत्संगी नहीं। मनुष्य की हैसियत से हम सभी भाई-भाई हैं। यहाँ हमलोग सभी सत्संगी हैं। भले कोई भेद जानते हैं और कोई नहीं जानते हैं।

ईश्वर सत्य है और सब उसकी माया है। दिखावटी हो, असलियत नहीं, यह माया है। जबतक ईश्वर को पाया नहीं, माया सत्य मालूम पड़ती है। ईश्वर सत्य है। माया को पार नहीं करने के कारण हम माया में फँसे रहते हैं। उसके पार होने के लिये चिह्न चाहिये। ईश्वर-निर्मित और नर-निर्मित चिह्न होते हैं। जो चिह्न ईश्वर से निर्मित है, वह श्रेष्ठ है। ईश्वर-निर्मित चिह्न के आधार से भक्ति करें। ईश्वर-निर्मित चिह्न ज्योति और शब्द हैं। ये दोनों नर-निर्मित नहीं, ईश्वर-निर्मित हैं। सूर्य में-से ज्योति निकाल लीजिये तो कुछ नहीं देखेंगे। ऐश्वर्यवान विभूति संसार में सूर्य है, यह प्रत्यक्ष है। इससे ज्योति निकल जाय तो कुछ नहीं बचेगा। इसलिये ज्योति ही सार है।

केवल ज्योति हो शब्द नहीं तो काम नहीं चले। शब्द के ज्ञान के वास्ते सब विद्यालय हैं। शब्द में वह शक्ति है कि शत्रु को मित्र बना दे और मित्र को शत्रु। शब्द से धनोपार्जन कर ले और शब्द से ही धनहीन भी हो जाय। धर्मराज युधिष्ठिर शब्द से ही धन हार गये। राजा हरिश्चन्द्र शब्द से ही सब राज-पाट दान कर दिये। अगर शब्द न होता तो न हार होती, न जीत और न तो दान ही होता। तोप के द्वारा गोला चलाया जाता है। बिना शब्द के गोला निकल नहीं सकता। शब्द की महिमा अपार है। शब्द ही निर्धन और धनवान बनाता है। शब्द मनुष्य-निर्मित नहीं हो सकता। शब्द ईश्वर-निर्मित है। इसलिये संसार में शब्द की महिमा अपार है। और तो क्या, अगर शब्द नहीं रहे तो आपका शरीर नहीं रहे। जो गति आपके शरीर में है, उस गति में भी शब्द होता है। गति बन्द हो जाय तो शब्द बन्द हो जाय। यह शब्द ईश्वर की विभूति है। ज्योति भी ईश्वर की विभूति है।

संतों ने कहा—ईश्वर-कृत ज्योति और शब्द ही विभूति-रूप चिह्न लो। जानना चाहिये कि संतवाणी वेदानुकूल है। संतवाणी में जो नाम-भजन है, वह वेदानुकूल है। ज्योति और शब्द की उपासना बहुत उत्तम है। अपने अन्दर की ज्योति और शब्द ईश्वर-कृत हैं। अन्दर की ज्योति की उपासना कैसे करें ? अन्तर्ज्योति देखने की तरकीब से देखी जाती है। एक संत ने कहा—

"उलटि देखो घट में ज्योति पसार।" बाहर की ओर देखना छोड़ कर अन्दर देखो। सिमटी निगाह से देखो। इस तरह देखोगे तो ज्योति का पसार पाओगे। इसका भेद भेदी गुरु से जानिये। संतवाणी से मालूम हुआ कि बाहर नहीं, अन्दर देखो। फैली निगाह से नहीं, सिमटी निगाह से देखो।

शब्द अंधकार में भी है और प्रकाश में भी। प्रकाश पाइये तो शब्द भी मिलेगा। इसकी युक्ति सीखनी चाहिये। बिना पढ़े कोई विद्वान् नहीं बन सकता है। उसी तरह बिना सीखे कोई साधन नहीं कर सकता है। ईश्वर के भजन के लिये अन्तर-ज्योति और अन्तर-नाद ही है। संतमत में यही खास चीज है। संतमत से इसे निकाल लें तो, मोक्ष-मार्ग खत्म हो जायगा, पहले प्रकाश लो, फिर शब्द लो। सबके अन्दर-अन्दर प्रकाश और शब्द हैं।

अपराह्नकाल

धर्मानुरागिनी प्यारी जनता !

ईश्वर की भक्ति को समझ सकें, इसके लिये आपको याद दिलाता हूँ। ईश्वर की भक्ति के समझने में, पहले ईश्वर-स्वरूप का निर्णय होना चाहिये। ईश्वर, मायातीत होने के कारण इन्द्रिय-गम्य नहीं हैं। इसलिये वे प्रत्यक्ष नही हैं। भक्ति कहते हैं सेवा को। जो प्रत्यक्ष नहीं हैं, उनकी सेवा हम कैसे करें ? उनके प्रत्यक्ष रूप का भजन या भक्ति संतों के संग भी हैं। यह एक तरह की सेवा है। जहाँ ईश्वर-सम्बन्धी कथाएँ हो, सुनो; यह भी एक तरह की भक्ति है। इन्द्रियों को काबू में रखने के लिये, बहुत से कर्मों से अपने को बचाये रखो। पञ्च पापों से बचे रह कर ही सज्जनों के धर्मानुकूल वर्ता जा सकता है। इन्द्रियों के रोकने का स्वभाव वाला बनने के लिये केवल विचार से ही नहीं होता है। इन्द्रियों के संग, मन की धारें लगी रहती हैं। इन धारों को इन्द्रिय के स्थानों से समेट कर एक केन्द्र पर रखो, तो दमशीलता होगी। दमशीलता के अन्दर मन का रूप वहिर्मुख से अन्तर्मुख हो जाता है। यह ऊर्ध्वगमन ही ईश्वर की भक्ति होती है। जैसे जगन्नाथ जी जाने वाले का चलना जगन्नाथ जी की भक्ति है, उसी प्रकार ईश्वर की ओर चलना भी ईश्वर की भक्ति है। जो लोग ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन के वास्ते अन्दर-अन्दर चलते हैं, उनका वह चलना ईश्वर-भक्ति के अन्दर दाखिल है।

किसी भी मंदिर में मूर्त्ति का दर्शन करके प्रत्यक्ष दर्शन की लालसा रह जाती है। दर्शन प्रत्यक्ष होना चाहिये। अन्तर्मार्गी को प्रत्यक्ष दर्शन होता है। बाहर घूमते हो इन्द्रियों के संग-संग और अन्दर घूमते हो इन्द्रिय और शरीर का संग छोड़ कर। अन्दर चलते-चलते अपने का पता लग जायगा। उसी को ईश्वर का भी पता लगेगा। चेतन आत्मा के ऊपर से जब सब आवरण उतर जाते हैं, तो आत्म-दृष्टि होती है। यह आत्म-दृष्टि किसी के देने से नहीं होती। अन्तरंग साधना-द्वारा ईश्वर की ओर चलना, ईश्वर की भक्ति है। यही परा भक्ति है। जीवात्मा शरीरों को छोड़ते-छोड़ते परमात्मा में अपने आप जा मिलती है। दमशील होने के साथ-साथ शमशील भी होना चाहिये। दम के बिना शम नहीं होता। शम का साधन पूर्ण सिमटाव में पहले विन्दु पर अवस्थित रह कर वहाँ जो शब्द होता है, उसको ग्रहण कर के होता है। जहाँ कम्पन है, वहीं शब्द है। जहाँ कम्पन नहीं,

वहाँ रचना नहीं। कम्पन में शब्द अनिवार्य रूप से होता है। सभी शब्द सुन नहीं पाते, इसलिये कहते हैं कि कम्पन में शब्द नहीं होता। कम से कम २० कम्पनाङ्क के शब्द को तथा ज्यादे से ज्यादे २० हजार वा ३० हजार कम्पनाङ्क के शब्द सुन सकते हैं। उससे कम या अधिक कम्पनाङ्क के शब्द को सुन नहीं सकते। चाहे स्थूल जगत् हो या सूक्ष्म जगत्, बिना कम्प के रचना बन नहीं सकती। जहाँ रचना है, वहाँ शब्द है। ऊपर का शब्द नीचे दूर तक आता है। अभ्यासी एक विन्दु पर, उस सूक्ष्म मंडल के केन्द्रीय शब्द को सुनता है। एकविन्दुता के कारण सूक्ष्म-मंडल में प्रवेश हुआ, इसलिये सूक्ष्म मण्डल के केन्द्र का शब्द पकड़ा जाता है।

संतों ने पुकार कर कहा है—"जेहि शब्द से प्रगट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै॥"

(कबीर साहब)

यही ईश्वर का प्रतीक है। ईश्वर तक पहुँचने का दृश्यमान चिह्न विन्दु है। बाहर में प्रतीक बनाते हैं, वह स्व-कृत है। ईश्वरकृत चिह्न जैसा मनुष्यकृत चिह्न नहीं हो सकता।

चलना रास्ते पर होता है। रास्ते का ओर-छोर होता है। इसका आरम्भ एकविन्दुता से होता है, और अन्त परमात्मा में होता है। यह ज्योति-मार्ग और शब्द-मार्ग सबके अन्दर-अन्दर मौजूद है। अध्यात्म-वैज्ञानिक अपने शरीर-रूपी धरती में खोज कर ज्योति और शब्द पाते हैं। नहीं करने वाला अगर कहे कि "नहीं है" तो उसका यह कहना गलत है। प्रत्याहार में जो हैरानी होती है, वह साधन करते-करते मिट जाती है। शमशीलता शब्द-साधना से होती है। परा भक्ति को जो नहीं जानते हैं, वे मोटी भक्ति को पकड़े रहते हैं। पूजा-पाठ में जो एकाग्रता आती है, उससे अधिक एकविन्दुता में आती है। स्थूल भक्ति, भक्ति का पैर है और सूक्ष्म भक्ति, भक्ति का शिर है। केवल पैर ही पैर नहीं जानो, शिर को भी जानो। पंच पापों (झूठ, चोरी, नशा, हिंसा और व्यभिचार) से बचे रहो। संसार में दुष्ट कर्म से जनता में कष्ट होता है। हमलोगों को सुराज्य प्राप्त है। इसके लिये कितने गोली के शिकार हुए और फाँसी पर चढ़े। परन्तु सुखी हम अपने को नहीं पाते हैं। हमें पापों से रहित होना चाहिये। अपने को पापों से छुड़ा लें तो दुष्ट कर्म बिल्कुल मिट जायेंगे और स्वराज्य में सुराज हो जायगा। ईश्वर की भक्ति करने वाले पापों से छूटते हैं। सबको चाहिये कि अपने को भक्त बना लें। किसी तरह धन कमा लो, इसमें पापों को नहीं छोड़ते हैं। परन्तु ईश्वर की भक्ति में पंच पापों को छोड़ना आवश्यक है। अपने तईं अपने को ईश्वर तक पहुँचाना ही ईश्वर की भक्ति है। हमलोग तन से स्वतन्त्र हो गये हैं, परन्तु मन से नहीं।

संत शरन जो जन परे, सो जन उधरन हारै।
संत की निन्दा नानका, बहुरि-बहुरि अवतारै॥

(गुरु नानक)

पलटू संत जो कहि गये, सोई बात है ठीक।
वचन संत के नहिं टरै, ज्यों गाड़ी की लीक॥

(पलटू साहब)

काजर दिये से का भया ताकन को ढब नाहिँ

श्री 'संतसेवी' जी

खंजन से नेत्र में अंजन, कज्जल और सुरमा लगाने से उसकी शोभा और अधिक बढ़ जाती है, किन्तु सम्पूर्ण सुन्दरता-संयुत होने पर भी यदि दृष्टि-विहीन हो,तो उस लोचन की क्या विशेषता ? वह वैसा ही होगा, जैसे सुन्दर सुकोमल, परन्तु सुगंध-हीन पुष्प। मानो इसी को इंगित करते हुए संत पलटू साहब ने कहा है—"काजर दिये से का भया, ताकन को ढब नाहिं।"

किन्तु नहीं, वे यहाँ सांसारिक दृश्य और द्रष्टा की बात नहीं कहते, वरं अध्यात्म-पथ के पथिक के लिये साधना सम्बन्धी कुछ संकेत करते हैं कि—"देखने की कला जानो।"

इस पर एक शंका हो सकती है—"चाहे साधक हों वा असाधक; सभी जन मुक्त-नेत्र से अहर्निश देखते हैं, फिर इसमें देखने की कला क्या हो सकती है ?" अच्छा, आइये, इस पर हम विचार करें।

इलाहाबाद में (सं० १६३१-१७३९) में एक कामिल फकीर बाबा मलूक दास जी हो गये हैं, उनका एक वचन है—

"प्रेम नेम जिन ना कियो, जीते नाहीं मैन।
अलख पुरुष जिन ना लख्यो, छार पड़ो तेहि नैन॥

अर्थात् जिसने कामदेव को नहीं जीता, ईश्वर से मिलने का प्रेम-नेम नहीं किया और परमात्मा के निज स्वरूप का साक्षात् नहीं किया; उसकी आँख में धूल पड़े। तात्पर्य उसकी आँख किसी काम की नहीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये कितनी ऊँची और अध्यात्म-ज्ञान की गम्भीरतम गहराई की बात कह रहे हैं। साथ ही विचारणीय है कि 'अलख पुरुष' को लखने के लिये कौन सी आँख चाहिये ? क्या यही चाम-चश्म ? हरगिज नहीं। संत कबीर साहब कहते हैं—उस 'अलख पुरुष' को इस चर्म-चक्षु से तुम नहीं लख सकते, उसके लिये आत्म-दृष्टि प्राप्त करो। "चाम चश्म सों नजरि न आवै, खोजु रूह के नैना।"

संत जन कहते हैं—यदि उस प्रभु की प्राप्ति बाह्य जगत् में हो पाती,तब तो उसके लिये तुम्हारी स्थूल दृष्टि ही पर्याप्त थी, किन्तु बात ऐसी नहीं; यद्यपि वे सर्वव्यापी हैं, फिर भी उनकी उपलब्धि सर्व प्रथम अपने अंदर होगी, फिर सर्वत्र। अतः अपनी बहिर्वृत्ति को अन्तर्वृत्ति करनी अत्यन्त अपेक्षित है।

"है दिल में दिलदार सही,
अँखियाँ उलटी करि ताहि चितैयै।
आब में खाक में बाद में आतश,
जान में सुन्दर जानि जनैयै॥
नूर में नूर है तेज में तेजहिं,
जोति में जोति मिले मिलि जैयै।
क्या कहिये कहते न बनै कछु,
जो कहिये कहते हि लजैयै।"

(संत सुन्दरदास जी)

स्वामी विवेकानन्द जी ने बहुत ही सरल और सुबोध वाक्यों में समझाया है कि हम परम प्रभु सर्वेश्वर को कहाँ और कैसे पा सकते हैं, तथा आँखों को उलटने का तात्पर्य क्या है ? उन्होंने कहा है—"इस प्रकृति में हम जिन मनोहर वस्तुओं को देखते हैं, वे बहुत ही सुन्दर हैं। परन्तु उनकी ओर अवलोकन करना ईश्वर के दर्शन का मार्ग नहीं है। वे तो अन्तर्दृष्टि से परिदर्शित होते हैं। हमें सीखना चाहिये कि हम अपनी दृष्टि को किस प्रकार अन्तर्मुखी कर सकते हैं। नेत्रों की बाह्य

जगत् को देखने की अभिलाषा को निवृत्त कर देना चाहिये। उसकी बाहर जाने की प्रवृत्ति रोक दी जानी चाहिये। नेत्रों को अभ्यन्तर की ओर फेरने का यही तात्पर्य है। उनकी बहिर्भूत होने की प्रवृत्ति जब जाती रहेगी, तब उनमें केवल उस सर्व-नियन्ता की ही महिमा परिलक्षित हो सकेगी।"

अन्तर्दृष्टि के सम्बन्ध में संत चरण दास जी महाराज स्व शिष्या सहजोबाई से संकेत मात्र करते हैं, किन्तु "खग जाने खग ही की भाषा" की भाँति समझने में उसे देर नहीं लगती। कुशाग्र बुद्धि वाली 'सहजो' सहज ही सरल-तरल हृदया होने के कारण उसको गोपित करके रख नहीं सकती; वह अपने हृदयोद्गार को रोके नहीं रोक पाती; अतएव अपने शब्दों में अभिव्यक्त करती है :—

"सहजो गुरु परसन्न ह्वै, मूँदि लिये दोउ नैन।
फिर मो सूँ ऐसो कहो, समझि लेहु यह सैन॥"

मात्र संतों एवं महात्माओं की वाणियों में ही नहीं, अपितु उपनिषद् भी इसका साक्षी है कि बहिर्मुखी रह कर कोई ब्रह्म को नहीं प्राप्त कर सकता; आवृत्त चक्षु होकर अन्तर्मुखी होने वाला ही आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदा-
वृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥१॥"
(कठोप० अ० २, वल्ली १)

अर्थात् परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है, इसलिये वे बाहर ही देखती हैं; अन्तरात्मा को नहीं। तब कोई-कोई धीर अमृतत्व की इच्छा करते हुए आवृत्त चक्षु होकर अर्थात् ढके हुए नेत्रवाला होकर—दृष्टि-शक्ति को अन्तर्मुख फेरकर आत्मा का दर्शन करते हैं।

इतने अनुशीलन के अनन्तर अन्तरात्मा में अब सहज ही एक जिज्ञासा हो उठती है कि हम अपनी बहिर्मुखी दृष्टि को अन्तर्मुखी कैसे बनावें?

दृष्टि देखने की शक्ति को कहते हैं। ये पाँच प्रकार की होती हैं, जिन्हें हम जाग्रत् की दृष्टि, स्वप्न की दृष्टि, मानसिक दृष्टि, दिव्य दृष्टि और आत्मदृष्टि की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं। इनमें प्रथम से तृतीय पर्यन्त दृष्टियों का ज्ञान सामान्यतः सभी जन को है, किन्तु चतुर्थ एवं पञ्चम दृष्टि को मात्र योगीजन जानते हैं। इस स्थल पर चौथी दृष्टि (दिव्य दृष्टि) से देखने के लिये संत पलटू साहब का संकेत है; क्योंकि दिव्य दृष्टि की प्राप्ति के बिना आत्म-दृष्टि को कोई पा नहीं सकता। अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम दिव्य दृष्टि को प्राप्त करने की विधि जानें। इसके लिये संतों ने बताया है कि वर्णित तीनों दृष्टियों के अवरोध होने पर मनोनिरोध होता है और तब चौथी दृष्टि अर्थात् दिव्य दृष्टि खुल जाती है। त्रय-दृष्टि-निरोधार्थ सर्व प्रथम हमें जाग्रत् की दृष्टि का संयमन करना होगा। क्योंकि जाग्रतकालीन दर्शित दृश्यों का प्रभाव मन पर पड़ता है और मन उन्हीं बातों का संकल्प-विकल्प करता रहता है। यही कारण है कि मानव जागरण-काल में जिन-जिन विषयों का चिन्तन करता है, स्वप्न में भी वह वैसा-वैसा ही देखता है। एतदर्थ हम जाग्रतावस्था में उस वस्तु का ही अवलोकन करें, जो हमारे लिये अत्यन्त अपेक्षित है। हम उस वस्तु की ओर दृष्टि-पात न करें, जो हमारे साधन-मार्ग में बाधक हो। इसीलिये महायोगी गोरखनाथ जी महाराज ने कहा है :—

"नाथ कहै तुम आपा राखो हठ करि वाद न करना।
यहु जग है काँटे की वाड़ी देखि दृष्टि पग धरणा॥"

महात्मा गाँधीजी के शब्दों में हम कह सकेंगे—"ईश्वर ने हमें देखने के लिये दो आँखें दी हैं, उनको हम मलिन करते हैं और देखने की चीजों को देखना नहीं सीखते। संयमी या त्यागी तथा स्वच्छन्द या भोगी के जीवन में अंतर होता है। आँखों से दोनों ही काम लेते हैं, परन्तु ब्रह्मचारी

देव-दर्शन करता है और भोगी नाटक-सिनेमा देखने में तल्लीन रहता है। आप थियेटर और सिनेमा जाना त्याग दें।" —(आत्म-संयम)

किसी ने आत्म-संयमन पर बहुत अच्छा कहा है—

"खाओ-पीओ, चाखो मत।" "भोगो-भागो, लागो मत" और "देखो-दाखो, ताको मत।"

दृष्टि-संयमन का दूसरा प्रकार :—एकान्त और पवित्र स्थान में मस्तक, ग्रीवा और धड़ को एक सीध में ला, नेत्र-द्वय बन्द कर किसी भी दृढ़ आसन से बैठ जायँ; किन्तु स्मरण रहे कि नेत्र पर किसी प्रकार का अनावश्यक जोर न लगाया जाय और न उसको उलटाया-पलटाया ही जाय। चूँकि जागरण-काल में स्वाभाविक ही हम बहुत से दृश्यों वा रूपों को देखते हैं। इसलिये उन सभी दृश्यों वा रूपों का प्रत्याहार-द्वारा परित्याग कर किसी एक रूप में अपने मन को स्थिर करें। किन्तु वह रूप पवित्रता की पवित्रतम प्रतिमूर्त्ति हो और उसमें हमारी सात्विक श्रद्धा प्रतिष्ठित हो। उस इष्ट मूर्त्ति के रूप को संलग्नता पूर्वक हम इस भाँति निहारें, जैसे चकोर चन्द्रमा को निहारता है। संत कबीर साहब ने कहा है :—

"गुरु मुख गुरु चितवत रहै, जैसे चन्द चकोर।
घीचि टूटि भुइँ मा गिरै, चितवै वाही ओर॥"

चकोर की उपमा देते हुए संत सुन्दर दास जी ने भी इसी प्रकार कहा है—

"राति में चकोर जैसे चन्द्रमा को धरै ध्यान,
ऐसे जानि निदिध्यास दृढ़ करि गहिये।"

तात्पर्य—जिस प्रकार चकोर पक्षी रात में चन्द्रमा का ध्यान करता है, इसी प्रकार इष्टमूर्त्ति के मानस ध्यान का निदिध्यासन करना चाहिये। इस अभ्यास के माध्यम मनोनिग्रह की स्वल्प शक्ति प्राप्त कर सूक्ष्मता में प्रवेश करने के लिये सूक्ष्म साधना का अवलम्ब ग्रहण करना चाहिये। सूक्ष्म अवलम्ब विन्दु है। विन्दु को ही परम प्रभु परमात्मा का अणु से अणुरूप श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है। (दे० अ०८।९) तथा तेजोविन्दूपनिषद् में इस (विन्दु) ध्यान को परमोत्कृष्ट ध्यान बतलाया गया है। यथा—"तेजो विन्दुः परं ध्यानं विश्वात्म हृदि संस्थितम्।" इसके द्वारा मन का पूर्ण सिमटाव होता है। सिमटाव में ऊर्ध्वगति होती है, ऊर्ध्वगति में आवरण-भेदन होता है। आवरण-भेदन से वहिर्मुखी वृत्ति अन्तर्मुखी होकर स्वाभाविक ही अंधकार से प्रकाश में प्रवेश कर जाती है। इस प्रकार साधक की दिव्य दृष्टि खुल जाती है अर्थात् वह दिव्य दृष्टि प्राप्त कर लेता है।

महर्षि मेंहीँ परमहंस जी महाराज ने इस विषय का कितना सुन्दर स्पष्टीकरण किया है, पठनीय है। "दृष्टि देखने की शक्ति को कहते हैं। दोनों आँखों की दृष्टियों को मिला कर, मिलन-स्थान पर मन को टिका कर देखने से एकविन्दुता प्राप्त होती है। इसको दृष्टियोग कहते हैं। इस अभ्यास से सूक्ष्म वा दिव्य दृष्टि खुल जाती है।"

अन्त में, हम अपनी जिज्ञासा की परिपुष्टि उन्हीं से कराना चाहेंगे, उन्होंने कहा है—
"काजर दिये से का भया ताकन को ढब नाहिं।"

सूक्ष्म वा दिव्य दृष्टि प्राप्त करने की विधि और ताकने वा देखने की कला में कोई फर्क नहीं। इसलिये संत पलटू साहब दोनों का उत्तर एक ही साथ दे देते हैं। वे कहते हैं—
"ताकन को ढब नाहिं ताकन की गति है न्यारी।
इक टक लेवै ताकि सोई है पिव की प्यारी॥
ताकै नैन मिरोर नहीं चित अंतै टारै।
बिन ताके केहि काम लाख कोउ नैन सँवारे॥"
ताके में है फेर फेर काजर में नाहीं।
भंगि मिली जो नाहिं नफा क्या योग के माहीं॥
पलटू सनकारत रहा, पिय को खिन-खिन माहिं।
काजर दिये से का भया ताकन को ढब नाहिं॥"

(शेषांश पृष्ठ १६ पर)